

भक्ति सम्प्रदाय का विकास

डॉ. शीतल राठौर

विक्रम विश्वविद्यालय,

उज्जैन, मध्यप्रदेश, भारत

आलेख संक्षेप

भक्ति सम्प्रदाय का विकास प्राचीनकाल में ही हो गया था। सर्वप्रथम वेदों एवं उपनिषदों में भक्ति का उल्लेख मिलता है, जिसमें निष्काम भक्ति पर बल दिया गया है। इनमें कहा गया है कि प्रभु भक्ति सबसे उत्कृष्ट एवं सर्वोत्तम रस है। प्रस्तुत शोध पत्र में भारत में भक्ति सम्प्रदाय के विकास की चर्चा की गयी है।

वेदों में भक्ति

भक्ति का सूत्रपात वेदकाल में ही हो चुका था। वेद भारत के सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं, इसमें श्रद्धा एवं भक्ति का रूप बड़ा उदात्त है। वास्तव में वेद ही भक्ति के आदि स्रोत हैं। वेदों में भक्ति और भक्त के रूप-स्वरूप पर बड़े विस्तार के साथ विचार प्रकट किया गया है। वेदों में साधकों द्वारा ईश्वर के प्रति श्रद्धा तथा विनम्रता व्यक्त करने का उल्लेख है तथा वेदों में ईश्वर भक्ति के विषय में जो मंत्र उपलब्ध होते हैं, वे बहुत ही सारगर्भित एवं भक्ति भावना से ओत-प्रोत हैं।

उपनिषदों में भक्ति

उपनिषद् ज्ञान, भक्ति तथा कर्म विषयक चर्चा एवं विवेचन के आगार एवं आधार हैं। कठोपनिषद् तथा मुण्डकोपनिषद् रहस्यपूर्ण तथा भक्ति ओत-प्रोत श्लोकों के लिये प्रसिद्ध हैं। कठोपनिषद् में कहा है कि- ब्रह्म अणु से भी अणु और महान् से भी महान् है। आत्मा प्राणी की हृदय गुहा में अवस्थान करती है। निष्काम साधक ईश्वर की अनन्त कृपा से उस आत्मा के दर्शन करता है। इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद् में भी भक्ति की रहस्यवादी भावना प्रतिबिम्बित होती है।

षट्दर्शनों में भक्ति

षट्दर्शनों में 'योगशास्त्र' भक्ति के क्षेत्र में विशिष्ट स्थान रखता है, उसका परम लक्ष्य है जीव के निज स्वरूप की पहचान करना। वह रहस्यवादियों की भाँति रस स्वरूप को भावात्मक न बनाकर बोधात्मक वैज्ञानिक रूप स्वीकार करता है। सच तो यह है कि योग आख्यकों के दृष्टिकोण का सहज विकसित रूप है।

योग के अनुसार ईश्वर जगत् का कर्ता नहीं, अपितु वह केवल योगसिद्धि में मार्गदर्शन करने वाला परम गुरु तुल्य है। सांख्य की भाँति योग का भी लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है। शंकर ने अद्वैतवाद में ब्रह्म को कण-कण में व्याप्त माना है।

पुराणों में भक्ति

पौराणिक भक्ति का मूल व्यक्तिगत श्रद्धा है। अर्थात् उसमें किसी महापुरुष परमात्मा की कल्पना अनिवार्य है। विष्णु तथा भागवत पुराणों में इस परम ईश्वरत्व की कल्पना विष्णु में की गई है तथा उसकी प्राप्ति का एकमात्र साधन हरिभक्ति को दर्शाया गया है एवं हरिभक्ति को ही सर्वोच्च धर्म माना गया है। इसके लिए अखण्ड श्रद्धा तथा विश्वास की कामना की है।

इसके अतिरिक्त विष्णु, वायु, शिव तथा कूर्म आदि पुराणों में भी भक्ति का वर्णन किया गया है।

भगवद्गीता में भक्ति

इसे भक्तिशास्त्र का सर्वोच्च ग्रन्थ माना गया है। गीता के सातवें अध्याय से लेकर बारहवें अध्याय तक के कुल दौ सौ नौ श्लोकों में भक्ति का वर्णन किया गया है। स्वयं गीता का एक अध्याय भी 'भक्ति योग' के नाम से प्रसिद्ध है। इस अध्याय में भक्ति के समस्त तत्त्वों, महत्त्वों और उपादेयता पर प्रकाश डाला गया है। गीता में भक्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि - "अबाध गति से ध्यान योग में लीन सुख-दुःख, लाभ-हानि में समान रूप से संतुष्ट रहने वाला जो दृढ़ निश्चयवान् व्यक्ति मन और बुद्धि दोनों को ही मुझमें (भगवान्) अर्पण कर देता है, ऐसा निश्चयवान् भक्त निश्चय ही भगवान् को प्रिय होता है।

अतः इस प्रकार स्पष्ट है कि भक्ति का सूत्रपात वेदकाल में ही हो गया था। उपनिषदों, पुराणों एवं गीता में भक्ति के उत्कृष्ट तत्त्व मौजूद हैं। इनमें भगवान् को ही सर्वोच्च मानकर उस पर पूर्ण विश्वास करने को कहा गया है। इन ग्रन्थों में योग-साधना, ज्ञान-विज्ञान, धर्म-अनुष्ठान, जप-पाठ और तप-त्याग आदि से प्रेममयी भक्ति को श्रेष्ठ माना है।

भक्ति आंदोलन का उदय

यद्यपि भक्ति आंदोलन का उदय बौद्धकाल में हो चुका था, परन्तु तब इसका स्वरूप संकुचित और असंगठित था, जो धीरे-धीरे विकसित होते हुए मध्यकाल में विस्तृत और संगठित हो गया, क्योंकि मध्ययुग में भक्ति का दार्शनिक विवेचन प्रारम्भ हो गया था। बौद्ध धर्म ने ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी में वैदिक धर्म की रूढ़ियों का विरोध किया, जिसके परिणामस्वरूप दर्शन के क्षेत्र में नई

अवधारणाओं का प्रतिपादन हुआ, परन्तु ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म कई शाखाओं में विभक्त हो गया था, जिसके कारण उसका धीरे-धीरे पतन हो गया था। इसी संक्रमण काल में शंकराचार्य ने मृत हो रहे हिन्दू धर्म को पुनर्जीवित करने के लिए वेदों और उपनिषदों की व्याख्या की।

शंकर ने ब्रह्म, जीव, जगत्, माया पर विचार प्रस्तुत करते हुए अद्वैतवाद सिद्धान्तों की स्थापना की, परन्तु बाद के आचार्य उनके सिद्धान्तों से सहमत नहीं हुए परिणामस्वरूप शंकर के अद्वैतवाद के विरोध में नए-नए सिद्धान्त प्रतिपादित हुए, जिनमें रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत, निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैत, मध्वाचार्य का द्वैत तथा वल्लभचार्य का शुद्धाद्वैत प्रमुख थे। इन सिद्धान्तों में भक्ति का दार्शनिक विवेचन मौजूद था। इसलिए ये ही सिद्धान्त भक्ति के दार्शनिक आधार बने। सिद्धान्तों में वर्णित भक्ति के स्वरूप पर हम संक्षिप्त प्रकाश डालेंगे-

सर्वप्रथम हम शंकर के अद्वैतवाद पर विचार प्रस्तुत करेंगे। शंकराचार्य ने उपनिषदों, भगवद्गीता तथा ब्रह्मसूत्र के भाष्यों के माध्यम से अपने अद्वैतवाद की स्थापना की, परन्तु उनके अद्वैतवाद में भक्ति के अनुकूल सिद्धान्त नहीं थे, क्योंकि उन्होंने जीव एवं ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं रखा। अतः अन्य आचार्यों ने यह प्रश्न उठाया कि यदि जीव ही ब्रह्म है तो ब्रह्म ही ब्रह्म की भक्ति कैसे कर सकता है ? अतः शंकर के अद्वैतवाद का दार्शनिकों ने तीखा विरोध किया।

इसके पश्चात् रामानुज का विशिष्टाद्वैत का सिद्धान्त आया, जिसमें उन्होंने बताया कि जिस तरह हाथ, पैर, नाक, कान आदि शरीर के विभिन्न

अंग अपना अलग अस्तित्व रखते हुए भी शरीर से स्वतन्त्र नहीं होते, बल्कि एक साथ मिलकर वे सब शरीर ही होते हैं, उसी तरह जीव और जगत् भी ब्रह्मा के अंग हैं, परन्तु ब्रह्म से सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है, अपितु ब्रह्मा में ही है। रामानुज शंकर की तरह ब्रह्म को निर्गुण निर्विशेष न मानकर सगुण सविशेष मानते हैं और इसकी प्राप्ति के लिए भक्ति पर बल देते हैं।

रामानुज की तरह उन्हीं के समकालीन निम्बार्क ने भी शंकर से भिन्न अपने द्वैताद्वैतवाद या भेदाभेदभाव का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। निम्बार्क का कहना है अविद्या और कर्म के कारण जीव शरीरयुक्त होकर जन्म-मरण के चक्र में पड़ा रहता है। उसे इससे मुक्ति ईश्वर की कृपा से ही हो सकती है और उसकी कृपा भक्ति से मिलती है, परन्तु सच्ची भक्ति केवल ईश्वर के ध्यान-मनन से नहीं, अपितु दोषमुक्त शुद्ध जीवन जीते हुए निःस्वार्थ प्रेम भावनाओं में खो जाने से संभव होती है।

शंकराचार्य के अद्वैतवाद का खण्डन करने वालों में अगला नाम तेरहवीं शताब्दी के दार्शनिक मध्वाचार्य का आता है। इनके दर्शन को द्वैतवाद कहा जाता है। मध्वाचार्य के अनुसार विश्व की सभी चीजों की उत्पत्ति प्रकृति में होने वाले विकास के परिणामस्वरूप हुई है, लेकिन प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है। वह ब्रह्म की इच्छा पर कार्य करती है इसलिए ब्रह्म जगत् का निमित्त है और प्रकृति उपादानकारण। ब्रह्म इस लोक में विष्णु के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं। मोक्ष प्राप्ति के लिए मध्वाचार्य भक्ति को श्रेष्ठ साधन के रूप में स्वीकारते हैं।

मध्वाचार्य के बाद पन्द्रहवीं शताब्दी के वल्लभाचार्य ने शंकर से असहमत होकर शुद्ध अद्वैत का सिद्धान्त प्रतिपादित किया, जिसे

शुद्धाद्वैतवाद कहा जाता है। वल्लभाचार्य के अनुसार श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म रस रूप हैं। धर्म स्थापना के लिये वे अवतरित होते हैं और उनकी प्राप्ति भक्ति के द्वारा हो सकती है। उन्होंने अपने भक्ति सिद्धान्त को पुष्टि मार्ग कहा है। पुष्टि का अर्थ पोषण होता है। यहाँ पोषण भगवान की कृपा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसलिए इस मार्ग में भक्त अपने सारे प्रयत्न त्यागकर भक्ति के लिए भगवान की कृपा पर आश्रित हो जाता है।

निष्कर्ष

अतः कहा जा सकता है कि उपर्युक्त वर्णित इन दार्शनिक सिद्धान्तों में भक्ति को आधार रूप में ग्रहण किया गया है, परन्तु शंकराचार्य का सिद्धान्त भक्ति के अनुरूप नहीं है। शेष सभी आचार्यों ने भक्ति को ही प्रमुख माना और प्रभु की निष्काम भक्ति पर बल दिया। ये सभी दार्शनिक सगुण भक्ति के पक्षधर थे। इसके अतिरिक्त मध्ययुग में ऐसे भी संत हुए जिन्होंने परमात्मा को निर्गुण निराकार मानकर उनकी भक्ति की है। इन निर्गुण भक्त दार्शनिकों के अनुसार निर्गुण ब्रह्म का कोई शरीर नहीं होता, इसलिए उसका अवतार भी नहीं होता। वह निराकार, नित्य, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, अनंत और अजन्मा है। सर्वव्यापक होने के कारण वह संपूर्ण विश्व में व्याप्त रहता है, अतः इन सभी निर्गुण एवं सगुण दार्शनिकों के कारण ही भक्ति आंदोलन विस्तृत एवं विकसित हो पाया है।